International Journal of Advanced Educational Research
ISSN: 2455-6157; Impact Factor: RJIF 5.12
www.educationjournal.org
Volume 1; Issue 4; July 2016; Page No. 58-61

काव्यशास्त्र में अनुबन्ध चतुष्टय

शीलू कुमार
प्राध्यापक, श्री सोमनाथ संस्कृत माह विद्यालय, जींद, हरियाणा, भारत।

प्रस्तावना

कवित्व दैवी अनुग्रह है, शक्ति का सहज स्फुरण। इससे सम्पन्न कवि विदग्धगोष्ठियों में यश और राजदरबारों में सम्मान पाता है। इस मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति को भी भामह के अनुसार शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त कर और काव्यज्ञों की उपासना कर प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं को सामने रखकर ही काव्य–कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी से प्रतिभा में संस्कार आता है। दण्डी के अनुसार भी पूर्ण मनोयोग के साथ की गयी सारस्वतसाधना प्रतिभा के अभाव में भी सफल होती ही है।[1] पूर्वाचार्यों, विशेष रूप से भामह के इस संकेत को ग्रहण कर मम्मट ने काव्यज्ञ का अर्थ दो प्रकार से किया है–1 जो काव्य की रचना और 2. उसका गुणदोषविचार जानता हो।[2] अर्थात् इन सिद्धान्तों का ज्ञान कवि के लिए तो अनिवार्य है ही, समीक्षक अथवा भावक के लिए भी अपरिहार्य है क्योंकि इनकी पहचान हुए विना दण्डी के अनुसार गुण और दोषों का विभाग नहीं हो सकता, जैसे नेत्रज्योति के अभाव में रूप–भेद की उपलब्धियों का विश्लेषण सम्भव नहीं। इस प्रकार काव्य का एक छोर उसका निर्माता सहृदय है तो दूसरा उसका अनुभविता सहृदय। राजशेखर ने इन दोनों के लिए काव्य से पूर्व शास्त्र में अभिनिवेश को न्यायसगङ्त माना है क्योंकि शास्त्र के विना काव्य का ज्ञान उसी प्रकार असम्भव है जैसे दीपक के बिना पदार्थ का ज्ञान। इस प्रकार कवि और भावक दोनों की प्रवृतिजनकता के कारण शास्त्र का लक्षण काव्यशास्त्र पर घटता है। वेदान्तानुमोदित "शासनाच्छास्त्रम्" लक्षण भी काव्यशास्त्र पर घटित होता है क्योंकि किसी भी साहित्यिक रचना का गुणदोषपुरःसर विवेचन करना ही काव्यशास्त्र का विष्य है।

परन्तु इस शास्त्र में प्रवेश का अधिकार सार्वजनिक न होकर विशिष्ट आभिजात्य तक सीमित है।[3] वामन ने अधिकारी निरूपण के प्रसंग में दो प्रकार के कवियों–1. अरोचकी और 2. सतृणाभ्यवहारी का उल्लेख किया है। इसकी व्याख्या स्वयं वामन ने ही वृति में विवेकी और अविवेकी के रूप में की है।[4] अविवेकी किसी भी दशा में काव्य–शिक्षा के योग्य नहीं है। कामधेनुकार इसी के समर्थन में एक गाथा उद्धृत करते हुए अद्रव्य में शास्त्रशिक्षण को भस्म में होम, मरूस्थल में अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी को आलोचक कहा था। राजशेखर ने आलोचकों का विवेचन करते हुए इन्हीं में दो अन्य भेदों को जोड़ दिया–(3) मत्सरी और (4) तत्त्वाभिनिवेशी।[5]

इस प्रकार के प्रयास कविब्रुवों की बाढ़ को रोकने और सत्काव्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। भामह भी कुकवित्व के प्रति अत्यन्त कठोर हैं। उनका स्पष्ट उद्घोष है कि कविता न करने से कोई अधर्म नहीं होता और न ही इसके लिए किसी शासकीय अथवा प्राकृतिक दण्ड का विधान है। परन्तु हीन कोटि का काव्य मृत्यु के समान है। भामह भी सर्वजन से काव्यत्व का अधिकार छीनकर उसे विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित रखना चाहते हैं। अतएव इस प्रारम्भिक थे जबकि ध्वन्युत्तरवर्ती काल के आचार्यों के लक्षण–ग्रन्थ आलोचना के निकष स्थापित करने के प्रति अधिक जागरूक हो गये थे। पुनरपि आचार्य विश्वनाथ वासना से रहित व्यक्ति को काव्य में प्रवेश के योग्य नहीं मानते।

ऐसी परिस्थिति में काव्य के प्रधान अग्ङों गुण, दोष और अलक्ङारों का विवेचन प्रारम्भिक लक्षण ग्रन्थों का प्रधान विषय था। दोषों का व्याख्यान काव्य के स्वरूपाधान की दृष्टि से नहीं प्रत्युत उसकी निष्पति से पूर्व परिहरणीय तत्त्वों के रूप में किया गया। गुणों को कुछ आचार्य अलक्ङारों से अभिन्न ही मानते थे। उद्भट काव्य में समवाय और संयोग वृत्ति के आधार पर करते हैं।[6] वामन ने इस चिन्तन को एक नयी दिशा दी। गुण अब काव्य के स्वरूपाधायक तथा अलक्ङार उसके उत्कर्षक हो गये।[7] भरत के चार अलङकार भामह तक आते–आते 36 तक पहुँच गये। रस को नाटक में मुख्य तत्त्व माना जाता था, काव्य के क्षेत्र में उतरते ही उसकी भूमिका गौण हो गयी यद्यपि भामह के महाकाव्य–लक्षण में इसे स्थान मिला था। उन्होंने इसका समाहार अलकङारों में तथा वामन ने गुणों में किया। ये ग्रन्थ छात्रकवियों की शिक्षा के निमित लिखे गये, इसका एक प्रमुख प्रमाण यह भी है कि सर्वप्रथम भामह और अनन्तर उसके अनुकरण पर वामन के शब्दशुद्धि नामक प्रायोगिक अधिकरण को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। इसे काव्य का व्याकरण कहा जा सकता है परन्तु भामह के प्रयोग को वामन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने मान्यता नहीं दी।

काव्यशास्त्र का यह विषय कवि के साथ बोध्यबोधकभावरूप सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। शास्त्र के साथ विषय का संबंध प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव रूप है।

इस प्रकार कवि और भावक को कविता और आलोचना के मानदण्डों का बोध करवाना काव्यशास्त्र का प्रयोजन है। इस दृष्टि से साहित्यदर्पण–कार आचार्य विश्वनाथ का यह मत कि शास्त्र काव्य का अप्रधान कारण है, अतः जो काव्य का प्रयोजन है, वही काव्यशास्त्र का भी प्रयोजन है,[8] चिन्त्य है। कवि के दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाये तो परम्परासम्बन्ध से इस मत में कुछ सार हो सकता है क्योंकि गुणदोष का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर ही कवि की शक्ति में संस्कार आ सकता है अन्यथा अन्योक्त का अनुवाद करने वाले 'अन्यवारस्वत' विदग्धगोष्ठियों में सम्मान प्राप्त नहीं कर सकते। परन्तु वस्तुतः भामह और वामन के काव्यालक्ङार ग्रन्थ कवि के साथ–साथ आलोचक के भी मार्गदर्शक हैं। कामधेनु टीकाकार ने दोषहान और गुणलक्ङारादान आदि से प्रतिपाद्य सौन्दर्यरूप अलक्ङार के प्रतिपादन में इस शास्त्र का प्रयोजन स्वीकार किया है।

काव्य के प्रयोजनों का शास्त्र के इस प्रयोजन के साथ साकङ्र्य नहीं हो सकता। शास्त्र काव्य का (गौण) कारण है (प्रधान कारण प्रतिभा है), काव्य वामन के अनुसार कीर्ति और प्रीति का। प्रीति अथवा आनन्द काव्य का साक्षात् प्रयोजन है, जिसे अप्रत्यक्ष रूप से आनन्दवर्धन ने भी माना, कीर्ति अदृष्ट प्रयोजन। वामन ने ये दोनों ही शब्द के कामधेनु टीकाकार ने दो अर्थ बतायें हैं–1. श्रवण के तत्काल अनन्तर हृदय में उत्पन्न सौन्दर्यसंवेदनरूप आनन्द तथा 2. परिणामतः इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहाररूप उपलब्धि।[9] यही उत्तरकाल में उपदेश के नाम से कही गयी और मम्मट ने इसका विशेषण 'कान्तासम्मित' दिया जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

सुखरूपा होने के कारण कीर्ति को स्वर्गफला कहा गया है, अतः वह

भी वस्तुतः प्रीतिजनक ही है पुनरपि उसका पृथगुपादान साभिप्राय है। इस प्रयोजन को सभी आचार्य महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं। मम्मट ने इसे सर्वप्रथम स्थान दिया। काव्यगोष्ठी में अथवा सहृदय समाज में कवि को जब साधुवाद मिलता है तो उसे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वामन ने इस प्रयोजन की स्तुति में तीन कारिकाओं का भी निबन्धन किया है।[10] काव्य–बन्ध की प्रतिष्ठा यश का मार्ग है अवश्य परन्तु यदि वह कुकाव्य हो तो उतनी ही अकीर्ति भी मिलती है। भामह ने इसे साक्षात् मरण के समान कहा था। कीर्ति सुखरूपा और स्वर्गफला है तो अकीर्ति नरक की दूती। सत्काव्य का स्पर्श पाकर न केवल कवि बल्कि काव्य बल्कि काव्य में वर्णित चरित्र भी चिरस्थायी हो जाते हैं।

भामह ने पुरूषार्थचतुष्टय का सम्बन्ध भी काव्य के साथ जोड़ा था जिसे वामन ने नहीं माना।[11] क्योंकि इसकी प्राप्ति इसकी प्राप्ति अन्य शास्त्राों से भी हो सकती है। भामह द्वारा इसे प्रयोजनों में परिगणित करने का कारण अन्य ही है उनका उद्देश्य कविशिक्षा के अतिरिक्त काव्य को न्याय और व्याकरण आदि शास्त्रों के समकक्ष प्रतिष्ठित करना था। भामह तक काव्यचर्चा को नाट्य से पृथक् हुए अधिक समय नहीं हुआ था। व्याकरण और न्यायादि शास्त्रीय विषयों का पाण्डित्य तब वैदुष्य का निकष समझा जाता था। इनकी स्पर्धा में नये विकसित होते हुए शास्त्र की स्थापना करना बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। दर्शन के गम्भीर प्रश्नों से मानव जीवन की विषमताओं का समाधान करने वाले आचार्यों के साथ उन्हीं की भाषा में बात करना आवश्यक था। इसलिए भामहाचार्य प्रयोजन के प्रसग्ड़ में सर्वप्रथम चारों पुरूषार्थों का नामतः उल्लेख करते है।

परवर्ती काल में विश्वनाथ ने भी इनका ग्रहण किया विश्वनाथ के समक्ष मम्मट का कान्तासम्मितत्व भी उपस्थित था।[12] इन दोनों को जोड़कर उन्होनें यह प्रतिपादित किया कि अन्य शास्त्रों के द्वारा सुलभ होकर भी पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति काव्य से ही करनी चाहिए क्योंकि यह मार्ग शास्त्रों की कर्कशता के विपरीत सरस, मृदु और सुन्र है। यह प्रयोजन भी सहृदय को लक्ष्य करता है।

काव्य हेतु

दण्डी ने नैसर्गिकी प्रतिभा के नाम से जिस तत्त्व की ओर सङ्केत किया है, भामह ने उसे ही काव्य का प्रधानतम निमित माना था। उनका प्रयास काव्य को शास्त्र से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करने का था। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि शास्त्र तो गुरूपदेश से जड़मति व्यक्ति भी सीख लेता है परन्तु काव्यत्व का स्फुरण उस निसर्ग प्रतिभा से ही हो सकता है जो अवचेतन में स्थित जन्मान्तरों के संस्कारों और सनातन अनुभूतियों का केन्द्र है। यही कवि के भावातिरेक से समन्वित होकर उद्बुद्ध हो जाती है तथा काव्यरूप में परिणत होती है। इसी बात को वामन ने 'बीज' शब्द से कहा,[13] मम्मट ने भी उसका समर्थन किया तथा य.ति.च. में इसी के आधार पर काव्यवृक्ष का रूपक खड़ा किया गया।[14] बीज जिस तरह वृक्ष का उपादान कारण है उसी तरह प्रतिभा काव्य का प्रधान निमित। दूसरी ओर महिमभट्ट ने प्रतिभा को कवि का तृतीय नेत्र कहा है जो उपादानरूप भावों को साक्षात् करने का निमित है। वह स्वयं काव्यरूप में परिणत नहीं होती प्रत्युत त्रैलोक्यवर्ती भावों को आत्मसात् कर पुनः उन्हें शब्दार्थ के माध्यम से काव्यरूप में प्रस्तुत करती है। अत एव वर्तमान शताब्दी में डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी इसे ही वेदान्त के ईश्वर के समान काव्य का उपादान और निमित भी मानते हैं। विशेष रूप से भामह के उतराधिकारी कश्मीरी आचार्य काव्य के कारण के रूप में प्रतिभा को अधिक गौरव देते रहे हैं। भामह ने तो यहाँ 'जातु' पद का भी प्रयोग किया है जो इस बात का द्योतक है कि प्रतिभा के साथ–साथ कवि को प्रेरित करने वाली अनुकूल परिस्थितियों का होना भी आवश्यक है।

भामह के अनुसार यह काव्य की सहज उद्भूति और कवित्य की प्रथम कोटि हैं। इस प्रकार के प्रतिभासम्पन्न कवियों का यशःशरीर काव्य के रूप में चिरस्थायी रहता है। परन्तु इस प्रतिभा के साथ–साथ उन्हें काव्यज्ञों के निर्देशन में अन्य कवियों के प्रबन्धों को देखकर इसके लिए सतत प्रयत्न भी करना चाहिए। इस प्रकार सारस्वतसाधना में किया गया प्रयास फलवान् होती है। ज्ञानराशि का प्रत्येक कण इन छात्रकवियों के अध्ययन का विषय बन जाता है। इस विवेचन को परवर्ती चिन्तकों ने अभ्यास और व्युत्पति नाम दिये। मम्मट ने प्रतिभा के साथ इन्हें समन्वित रूप से काव्य का हेतु मान लिया।

वामन ने काव्यालक्ङारसूत्रों का प्रणयन छात्रकवियों को दृष्टि में रखकर किया था जो काव्यरचना में प्रवृत्त हो रहे थे। यही कारण है कि लोकव्यवहार और शास्त्रज्ञान को उन्होंने सर्वोच्च प्राथमिकता दी। हेतु के लिए उन्होंने काव्यां शब्द का प्रयोग किया। लोक, विद्या और प्रकीर्ण कायाङ्ग है।[16]

काव्य लोक का ही अनुवर्तन करता है। लोकव्यवहारज्ञता का महत्व इसी दृष्टि से है। कवि के द्वारा अध्येय विद्याओं का तो सीमानिर्धारण ही नहीं सकता। ज्ञानमात्र काव्याङ्ग के रूप में गृहीत हो सकता है तथापि कुछ प्रधान कालाओं और शास्त्रों का उल्लेख वामन ने नामतः कर दिया है। इनमें से शब्दशात्र (व्याकरण), कोश, छन्दःशास्त्र, नृत्यगीतचित्रादि ललित कालायें, कामशास्त्र, दण्डनीति आदि प्रमुख हैं। वामन का यह उल्लेख भामह की सरणि पर ही किया गया प्रतीत होता है। काव्यालक्ङार में इस सन्दर्भ में व्याकरण, छन्दोविचिति, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाओं, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का परिगणन किया गया है। यहाँ भामह की शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थः इत्यादि कारिका में शब्द और अभिधान दोनों पदों का प्रयोग हे। अभिधान का अर्थ भट्टोद्भट के अनुसार है– अभिधाव्यापारप्रधान (अभिधान व्यापार)। यह गौण अर्थ का वाचक है, पुनरपि मुख्य अर्थ के साथ सम्बद्ध अवश्य होता है। वामन ने इसे ही सम्भवतः सादृश्यलक्षणा वक्रोक्ति कहा था। अथवा एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि प्राचीन काल में अभिधानकोश और छनदःशास्त्र का अध्ययन भी काव्य के अङ्ग के रूप में किया जाता था। पी.वी. नागनाथशास्त्री ने अभिधान का अर्थ Nature of words (as conveying primary and secondary sense) तथा अर्थ शब्द का अर्थ meaning of words किया है। लोक और शास्त्रज्ञान जितना प्रखर होगा काव्यदोषों की सम्भावना उतनी ही कम हो जायेगी। देश, काल, काला, लोक और आगम विरोधी दोष कवि की अल्पज्ञपा के कारण ही काव्य में प्रकट होते हैं।[17]

प्रकीर्ण शीर्षक के अन्तर्गत वामन ने जिन वृद्धसेवा, लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, अवेक्षण और अवधान हेतुओं का उल्लेख किया है, उनका समाहार मम्मट के "काव्यज्ञशिक्षाऽभ्यासः" अथवा भामह के "कृत्वा तद्विदुपासनाम्" में ही किया जा सकता है। वामन ने इनका पृथक्–पथक् और विस्तृत विवेचन छात्रकवियों के अनुरोध से किया। इन द्वितीय श्रेणी के कवियों के लिए अध्ययन के अनन्तर अभ्यास तो आवश्यक है ही, इसके लिए भामह ने काव्यज्ञ के निर्देशन को भी आवश्यक माना था।

पुनरपि प्रतिभा के विना काव्यत्व की उद्भूति कथमपि सम्भव नहीं। परन्तु यहाँ प्रतिभान उस नैसर्गिक प्रतिभा का वाचक नहीं जिसके अभाव में भामह ने कवित्व की सम्भावना का ही निषेध कर दिया था। यहाँ प्रतिभा से अभिप्राय उस चेतना मात्र से है जिसके लिए विश्वनाथ ने 'वासना' पद का प्रयोग किया है, जो काव्यत्व के स्फुरण के लिए अनिवार्य है और जिसके अभाव में व्यक्ति ङ्गभवन में काष्ठकुड्याश्मसंनिभ ही होता है। यह काव्यचेतना कवि में ही नहीं, भावक में भी होनी चाहिए।

इस सारे विवेचन को तीन शीर्षकों में बाँट लिया गया– प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास। आचार्यों में मतभेद प्रतिभा और व्युत्पत्ति के सापेक्षिक महत्त्व को लेकर रहा। प्रारम्भिक काल में ही आनन्द

प्रतिभा को और मग्ङल व्युत्पति को अधिक महत्त्व देते थे। समाधि को ही काव्यहेतु मानने वाले आचार्य भी थे। रूद्रट के द्वारा प्रतिभा का सहजा और उत्पाद्या के रूप में विभाग करना और फिर सहजा को श्रेष्ठ कहना अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिभावाद का ही समर्थन हैं। प्रतिभा का प्रबल समर्थन महिमभट्ट और आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने भी किया। डॉ० नगेन्द्र ने वामन पर यह आरोप लगाया है कि वे इसे वाञ्छित गौरव नहीं दे सके। इतने महत्वपूर्ण हेतु का परिगणन उन्होंने प्रकीर्ण शीर्षक के अन्तर्गत अमुख्य स्थान पर किया है। वास्तव में इसका कारण उनके ग्रन्थ की विषय योजना थी। पुनरपि वे इसका उल्लेख अवश्य करते हैं। "यह उसके अनिवार्य महत्व की स्वीकृति ही है। अन्ततः मम्मट ने एकवचनान्त हेतु शब्द का प्रयोग करके इस सारे विवेचन को समाहृत करने का प्रशस्त प्रयास किया। परन्तु उसे भी पण्डितराज जगन्नाथ की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी। उन्होंने काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिरूप प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र कारण स्वीकार किया है। यह कभी किसी देवता, महापुरूष आदि की कृपा से जन्य भी हो सकती है तथा कभीा व्युत्पति और अभ्यास से भी इसका संस्कार सम्भव है।[18]

काव्य के प्रयोजन भी कवि को काव्य में प्रवृत करते ही हैं। भामह और वामन के मध्यवर्ती काल में कीर्ति आदि की कामना से नागरक काव्यकर्म में प्रवृत होते थे। परिणामतः कविब्रुवों की बाढ़ ही आ गयी थी परन्तु प्रयोजन को कदाचित् काव्य के हेतु नहीं कहा जा सकता। हाँ, प्रेरणा की दृष्टि से इनका भी कुछ महत्त्व अवश्य है। अस्तु।

काव्यहेतुओं के सम्बन्ध में भामह की उपजीव्यता निःसन्दिग्ध है। प्रतिभा, व्युत्पति और अभ्यास इन तीनों के सक्ङेत काव्यालक्ङार में सुलभ हैं। मम्मट के त्रितयवाद पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। प्रतिभा को तो वे प्रधानतम हेतु मानते ही थे। विशेष रूप से कश्मीरी आचार्य इस मत से प्रभावित रहे। दण्डी और वामन जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं वहाँ व्यत्पति और अभ्यास को अपेक्षाकृत अधिक गौरव मिला है। तथापि कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र के उत्कर्षकाल में वामन उतने ग्राह्य नहीं हो पाये। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में जब आलोचना के प्रतिमान ही बदल गये तो वामन की प्रासग्ङिकता और भी कम हो गयी।

काव्य–शरीर और आत्मा

आलोचनाशास्त्र के ऐतिहासिक विकासक्रम में जब काव्यचर्चा नाट्य से पृथक् अलक्ड़ारशास्त्र के रूप में स्वन्त्र अस्तित्व बना रही थी, उस समय इसे चिरन्तन आचार्य भामह का स्पर्श मिला। भरत के नाट्यशास्त्र ने वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में लक्षणों का विवेचन करते हुए भट्टनायक ने अभिधा– व्यापारप्रधान कविकर्म को 'काव्य' संज्ञा दी। यह अभिधा– व्यापार वहाँ होता है जहाँ शब्द और अर्थ दोनों का गुणीभाव रहता है। भरत के विवेचन को ही आगे बढ़ाते हुए भामह ने शब्द और अर्थ इन दोनों के सहभाव को काव्यसंज्ञा प्रदान की। परन्तु यह दृष्टि उससे भिन्न थी। इस सहभाव की कल्पना कालिदास ने पार्वतीपरमेश्वर और तुलसीदास ने जलवीचि के रूप में की। शब्दार्थ के सहभाव से अभिप्राय है, उनका तुल्यकोटिक महत्त्व। न तो यहाँ शास्त्र के समान केवल शद प्रधान होता है, न आख्यायिकादि के समान केवल अर्थ प्रधान। भामह के इसी कथन का अनुवाद करते हुए रूद्रट ने तो विना किसी विशेषण के ही शब्दार्थयुगल को काव्य कह दिया था क्योंकि शब्दार्थौ पद में उभयपदार्थप्रधान (इतरेतर) द्वन्द्व स्वतः ही दानों के सहभाव को सुतरां सिद्ध कर रहा है।

भामह का यह लक्षणवाक्य उस प्रसग्ङारवादियों के दो प्रमुख वादों का विश्लेषण कर रहे थे। इनमें से एक वाद रूपकादिरूप अर्थतत्त्व को काव्यसौन्दर्य का आधायक मान रहा था, दूसरा वर्ग पदविन्यास को महत्त्व देता था। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं सौशब्द्यवाद के नाम से किया है। ये दोनों ही वाद भामह को समान रूप से ग्राह्य थे क्योंकि शाब्दिक चमत्कार नितराम् अर्थशून्य नहीं होता और न ही अर्थिक चमत्कार अपने अभिधायक शब्दों के बिना निष्पन्न हो सकता है। 'सहितौ' (साथ–साथ या समान रूप से) पद का यही स्वारस्य है। काव्यालक्ङार इन दोनों की चारूत्वमूलक प्रविधियों का विश्लेषण करता है। भामह के इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार ने यह प्रतिपादित किया था कि काव्य में शब्द और अर्थ की अन्यूनानतिरिक्त रू॰ से वह अवस्थिति ही साहित्य है जो उसमें एक विशिष्ट शोभा का आधान करती है। इसी भाव को प्रकारान्तर से इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है– अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः। परन्तु शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व की स्थिति को स्वीकार करते हुए भी भामह शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व की स्थिति को स्वीकार करते हुए भी भामह का आग्रह अर्थ के प्रति ही अधिक प्रतीत होता है क्योंकि उनकी वक्रोक्ति शब्द और अर्थमूलक अलङ्कृतीयों में चारूता की आधायक होते हुए भी प्रधान रूप से अर्थ का ही विभावन करती है।

काव्य– भेद

वाचिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा का गद्य–पद्यात्मक विभाजन प्रारम्भ से ही स्वीकार किया जाता रहा है। जिसका प्रमुख आधार लयहीनता और लायात्मकता, एवं च छन्दोहीनता और छन्दोबद्धता ही है। भामह और वामन इन दोनों ही आचार्यो ने काव्य को प्रधान रूप से इसी आधार पर विभक्त किया है। संयोग से, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सामान्य व्यवहार का माध्यम होने के कारण यहाँ गद्य का पूर्वनिर्देश होता रहा है परन्तु वामन ने इस पर हेतु उपस्थित करते हुए कहा है कि गद्यरचना उपेक्षाकृत दुर्ज्ञेज और दुर्बन्ध होता है। उन्होंने एक प्राचीन आभाणक भी उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि "गद्य ही कवियों की कसोटी है"। गघ की इस प्रकार की संस्तुति का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय गद्यसाहित्य बहुत ही अल्प मात्रा में लिखा जाता था। वाङ्मयमात्र पद्यरूप में उपलब्ध होता है चाहे वर्ण्यवस्तु शास्त्रीय हो अथवा कलाविषयक। गद्य का वृतगन्धि नामक भेद भी पद्य के प्रति काव्यों के आकर्षक को अभिव्यक्त करता है। अस्तु।

भामह ने गद्य और पद्य का केवल नाम्ना निर्देश किया है, उसकी विशिष्ट व्याख्या नहीं की वामन ने इनके अतान्तर भेद उपस्थित किए हैं। गद्य के चूर्णक और उत्कलिकाप्राय नामक भेद क्रमशः समास की अल्पता और आधिक्य को लेकर निर्धारित किए गए हैं। बहुत बाद में जाकर विश्वनाथ ने नितान्त समासहीन रचना के लिए इनमें मुक्तक नामक एक प्रभेद जोड़ा परन्तु यह भेद केवल सम्भावनामात्र को लेकर कल्पित किया गया है, अन्यथा समासप्रधाना संस्कृत में इस प्रकार की सर्वथा समासहीन रचना को ढूँढ़ पाना असम्भव ही है। वामन के अनुसार एक अन्य प्रभेद वृतगन्धि गद्य का है, जहाँ गद्यात्मक विधा में कोई बन्धन न होने पर भी सहज रूप किसी वृत की गन्ध आ जाये। जैसे "पातालतातुतलवासिषु दानवेषु" इस पंक्ति में वसन्ततिलका नामक वृत की छाया प्रतीत हो रही है।

पद्य क्योंकि छन्द पर ही आधारित होता है, अत छन्दोऽनुरोधेन इसका विभाजन समवृत (जिसके सभी पाद तुल्य लक्षण वाले हों), अर्धसम (जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद समलक्षण हों) विषय (जिसके चारों पादों के लक्षण भिन्न–भिन्न हों) आदि रूप में अनके प्रकार से किया जा सकता है। 'आदि' पद से आर्या इत्यादि मात्रावृतों का ग्रहण किया जाता है जिसके प्रथम और तृतीय चरण समलक्षण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण विषम लक्षणों से युक्त होते है।

भाम और वामन के मध्यवर्ती दण्डी ने गद्य और पद्य के अतिरिक्त 'मिश्र' नामक एक अन्य प्रभेद की कल्पना की, जो आगे चलकर

ग्राह्य भी हुआ। वामन ने इस भेद का तो उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके मिश्ररूप रूपक को न केवल काव्य–भेद के रूप में ही स्वीकार किया, प्रत्युत अन्य भेदों की अपेक्षा से इसे श्रेय भी बताया।

गद्य–पद्यात्मक काव्य का वामन ने एक अवान्तर विभाजन निबद्ध और अनिबद्ध के रूप में किया है। वृति से स्पष्ट होता है कि निबद्ध काव्य दशरूपक, कथा और आख्यायिकारूप है। भामह ने भी काव्य के यही पाँच प्रभेद माने हैं। इनमें से कथा और आख्यायिका गद्य के प्रभेद हैं, सर्गबन्ध और अनिबद्ध पद्य के। नाटक को डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने मिश्ररूप माना है परन्तु एक तो मिश्र काव्य की भामह ने सत्ता ही नहीं मानी और फिर नाटक का लक्षण न देकर उन्होंने उसके जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे सभी प्रभेद मानना ही अधिक उचित है। परन्तु दण्डी ने जिसे मिश्रकाव्य कहा है वही आगे चलकर 'चम्पू' के नाम से विश्रुत हुआ।

भामह का श्लोकमात्र (अथवा यदि प्राकृत में काव्यरचना हो तो गाथामात्र) तक सीमित अनिबद्ध काव्य वही है जिसका उल्लेख दण्डी ने मुक्तक, कुलक, संघात या कोशादि भेदों के रूप में किया है। क्योंकि ये सर्गबन्ध के अंशरूप ही हैं, अतः काव्यादर्श में इनका विस्तृत विवेचन न करके सीधे महाकाव्य का ही व्याख्यान है। वामन ने भी इस अनिबद्ध काव्य की इतनी ही उपयोगिता मानी है कि इसमें काव्यरचना की योग्यता आ जाने पर प्रबन्धकाव्य के निर्माण में वैशिष्ट्य प्राप्त किया जा सकता है, जैसे माला की सिद्धि होने पर ही शेखर का निर्माण सम्भव है। स्वतन्त्र रूप से तो इस प्रकार की रचना एकतेजः परमाणु की तरह कभी प्रकाशित नहीं होती।

निबद्ध काव्यों में वामन के अनुसार दशरूपक श्रेष्ठ है क्योंकि वह चित्रपट के समान वर्ण्य विषय को आँखों के सामने ला देता है। दूसरी ओर भामह ने केवल इसके प्रमुख तीन–चार भेदों का उल्लेख भर करके ही इस विवेचन का समाप्त कर दिया कि ग्रन्थान्तरों में इस पर विस्तार से विचार किया गया है। भामह का काव्यालुकङ्ार काव्यशास्त्र के विकास की दूसरी अवथा है, जब काव्यचर्चा नाट्य से सर्वथा पृथक् हो चुकी थी। विकास की तीसरी अवस्था में नाट्यचर्चा ही काव्यशास्त्र की आनुषगङ्िक बन गयी। इसका थोड़ा सा सङ्केत भामह के इस उल्लेख से भी मिलता है। वामन के समय तक यही बात और परिनिश्ठित हो गयी थी, परन्तु अब भी उसका विवेचन पृथक् ग्रन्थों में ही किया जाता था। काव्यालङ्कारसूत्र लिखते हुए वामन ने केवल तीन सूत्रों में इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया।

सत्य तो यह है कि वामन ने किसी भी काव्यभेद पर विस्तारी से कुछ नहीं कहा, वे इस प्रश्न को महत्त्व ही नहीं दे पाये। महाकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि के लक्षण अत्यन्त आवर्जक नहीं हैं और फिर पूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि ने इस विषयों पर बहुत कुछ कह दिया हैं, अतः अब इस पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं रही। परन्तु भामह हैं और इस विषय पर उनकी स्थापनायें न केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं प्रत्युत सम्पूर्ण पश्चाद्वर्ती परम्परा पर उन्होंने अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है।

संदर्भ ग्रंथ

1. काव्यादईः 1/10।
2. कात्यप्रकाशः प्रधमउल्लासः।
3. श्लोक वार्तिक 5/5/4।
4. काव्यसूत्रवृतिः 1/2/1।
5. काव्यमीमांरना पृष्ठ संख्या 32।
6. काव्यप्रकाश (आष्टम उल्लास)।
7. काव्यसूत्रवृतिः 3/1/1–2
8. साहित्यदर्पणः प्रथम परिच्छेद
9. काव्यसूत्रवृतिः 1/1/5
10. वही 1/1/5
11. काव्यालङ्कार 1/2
12. साहित्यदर्पण 1/2 पर वृतिः
13. काव्यसूत्रवृतिः 1/2/16
14. यशस्तिलकचम्पू 3/247
15. काव्यालङकार 1/16
16. काव्यसूत्रवृतिः 1/3/1
17. भामह व वामन के काव्य–सिद्धान्त (डॉ० रमण शर्मा पृष्ठ संख्या 40)
18. रसगंगाधर पृष्ठ 9